



नाटक : पाठ से प्रस्तुति की ओर

डॉ. रोहित कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), हिंदी विभाग, किरोड़ी मल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत |

सारांश

नाटक एक ऐसी विधा है जिसे पाठ की तरह पढ़ा और उसकी प्रस्तुति को देखा जा सकता है। किसी भी अन्य साहित्यिक पाठ में प्रस्तुति की शर्त अनिवार्य नहीं होती है। नाटक के साथ भी अनिवार्यता नहीं है किन्तु उसके पाठ को तैयार करते समय रंगमंचीय प्रस्तुति की सभी विधियों का अनुपालन करते हुए उसका उल्लेख करना होता है। इसे रंगसंकेत कहा जाता है। नाटक लेखक, पाठ और पाठक या रंगमंच और दर्शक के बीच एक यात्रा है जो नाटक को तय करनी होती है। इस पेपर में इस यात्रा को समझने और प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

मूल शब्द: नाटक, पाठ, रंगमंच, रंगसंकेत, साहित्यिकता, घटनात्मकता |

प्रस्तावना

नाटक साहित्य की वह विधा है जिसमें प्रक्रिया के दोहरे मानकों को एक साथ ले कर चलने की चुनौती उपस्थित होती है। जहाँ एक ओर एक प्रक्रिया पाठ की सत्ता को पाने के लिए लेखन की अनुगामी है तो वहीं दूसरी प्रक्रिया के अंतर्गत रंगमंच-प्रस्तुति के लिए नेपथ्य और मंच के घटकों का पूर्ण संयोजन आवश्यक है। इस दोहरी भूमिका के सिरो में पाठ व्यक्ति (लेखक) और रंगमंच समूह (नाट्य मंडली) को संकेतित करता है। नाटक का पाठ कथात्मकता की बुनावट कर, रंग-संकेत और संवाद-शैली की योजना में नाटकीयता के रूप को विकसित करता है, वास्तविक रूप से 'घटनात्मक संभाव्यता' को निर्मित करता है। एक पाठ भाषा का एक जाल है जिसमें कथ्य अपनी ही भाषा में कैद होता है। दूसरी ओर प्रस्तुति के अवसर पर पाठ की भाषा प्रस्तुति की भाषा में रूपांतरित होकर ध्वनि, प्रकाश, चरित्र, मंच और संवाद आदि के संकेत में पुनर्सृजित हो जाती है। यह भाषा-परिवर्तन ही समूह की मांग है। ऐसे में जब नाटककार जयशंकर प्रसाद पाठ की प्राथमिकता- 'बाध्य-बाधकता' को विशिष्ट मानकर लिखते हैं कि "काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंग-मंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है"।¹ तो कहीं न कहीं प्रस्तुति की 'घटनात्मक संभाव्यता' को मंच से खींच कर पाठ में कैद करने की कोशिश कर रहे होते हैं, पाठ को प्राथमिक बना रहे होते हैं। मूल रूप से नाट्य-प्रक्रिया कई गतिविधियों का संयोजन है जिसे सम्पूर्ण और घटकीय योजना में देखते हुए कहा गया है कि "नाट्याभिनय के क्षेत्र में नाटक भी नाट्यकला का एक अंश मात्र है, अपने आप में सम्पूर्ण सृष्टि नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे अभिनय भी एक अंश मात्र है, नाटक के साथ युक्त हुए बिना वह पूर्णता को प्राप्त नहीं करता"।²

नाटक की तर्कसंगत चर्चा करने के लिए नाट्य-प्रक्रिया के तत्वों को ही आधार-बिंदु बनाना सही जान पड़ता है। लेखक, साहित्यिक पाठ, निर्देशक, प्रस्तुति पाठ, प्रस्तुति और दर्शक- ये तत्त्व एक दूसरे की संकल्पनात्मक सत्ता को अनुपस्थित किए बिना पारस्परिक रूप से कार्य करते हैं। नाटक की पूर्ण संकल्पना इन तत्वों के आपसी सामंजस्य में है। एक को दूसरे की सत्ता भूलने या भुला देने की आजादी नाटक में निहित है ही नहीं। यही कारण है कि "नाट्यकला" को 'कंपोजिट आर्ट' कहते हैं अर्थात् समन्वित कला -जहाँ अनेक कलाओं के तत्वों को ले कर, उनका एक साथ संयोजन करके यह शिल्पकला तैयार होती है"।³ इसलिए निर्मित और

प्रस्तुति दोनों में ही "नाट्यकृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण हैं, दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक दूसरे के पर्याय भी" हैं।⁴

लेखक और साहित्यिक पाठ

नाटक की किसी भी परिभाषा को देने वाले चिंतकों या नाटककारों ने 'प्रस्तुति' और 'अभिनय' को नाटक के अनिवार्य घटक के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुति की कल्पना के बिना कोई नाटक रचा नहीं जा सकता। वास्तव में "नाट्य शब्द 'नट' धातु से बना है, इस धातु का अर्थ है- अभिनय करना। अतः नाट्य वर्ग की सभी विधाओं में 'अभिनय' केंद्रीय विशेषता है"।⁵ इसी कारण साहित्यिक पाठ (पाठ्य नाटक) को एक विडम्बना ही कहा जाएगा। इसका कारण यह है कि "यदि नाटक को 'पाठ्य' तक सीमित कर दिया जाए, तो फिर उसे 'दृश्यकाव्य' कहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। जब कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध की भांति उसे भी पढ़कर ही संतोष कर लिया जाएगा, उसका रंगमंच पर प्रस्तुत होना अनिवार्य नहीं रह जाएगा तब साहित्य को 'श्रव्य' और 'दृश्य'- इन दोनों रूपों में विभक्त करने की भी आवश्यकता नहीं रह जाएगी"।⁶ लेखक जब लिखता है तो उसके सामने कृति के अस्वादन की संकल्पना विकसित होती रहती है इससे वह कृति के कथ्य, रूप और सम्प्रेषण शैली में सामंजस्य बिठाता जाता है। घटनात्मकता और संवाद शैली के सहारे लगभग हर विधा अलग-अलग ढंग से ही सही नाटकीय अवश्य होती है इसीलिए निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों से नाटक बनी कृतियों के संबंध में लिखा है कि "नाटकीयता हर कला-विधा में मौजूद रहती है, किन्तु हर विधा नाटक नहीं होती"।⁷ नाट्यकला के माध्यम से कुछ विशिष्ट अनुभव का संचार या उत्पत्ति होती है जो अन्य किसी तरह से नहीं हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि आखिर वह क्या है जो नाटक को अन्य विधाओं से अलग करता है? इसका सीधा और सरल उत्तर पाठ में मौजूद रंग-संकेत हैं जो पाठ में मौजूद कथ्य और शब्द को मंच में उपस्थित करने की योजना प्रदान करते हैं। लेखक नाटक लिखते समय रंग-संकेत में कथ्य को मंचित होने की कल्पना के साथ लिखता है क्योंकि "नाटक पर विचार करते समय जितना आवश्यक उसकी कथा-वस्तु, पात्र और भाषा पर सोचना है, उतना ही आवश्यक उसके रचना-नियमों, उसकी प्रदर्शन-क्षमताओं, उसकी रचना-पद्धति को प्रभावित करने वाली रंगमंच की रूढ़ियों, प्रदर्शन के साधनों और शैलियों पर विचार करना है तभी नाटक की निजी सत्ता और उसकी जटिलता का अनुभव हो सकता है"।⁸ मंच की भाषा को पाठ में उपस्थित रंग-संकेतों में देखा जा सकता है जैसे- प्रकाश, ध्वनि, मंच में पात्रों का स्थान और क्रिया-कलाप आदि का स्पष्ट विवरण। साहित्यिक नाटक

लिखते समय निर्मल वर्मा का यह विचार लगातार कार्य करता है कि “हर शब्द अपने में एक ऐकट है, महज ऐकट करने का साधन नहीं”¹⁰। ‘ऐकट’ -जो संवाद, दृश्य और गतियों की आंतरिक लय से उत्पन्न एक ठोस प्रभाव को जन्म देता है। इसी कारण नाटक का साहित्यिक पाठ निर्मित होते हुए शब्द और रंग-संकेतों की जितनी गहरी और अन्तरंग अन्विति विकसित करता है उसका प्रभाव उतना ही अधिक होता है।

निर्देशक और रंगमंचीय पाठ

पाठ की गति लेखक से निर्देशक, निर्देशक से अभिनेता और अभिनेता से दर्शक तक होती है। द्वितीय चरण पर निर्देशक लिखित पाठ को चयन कर उसे रंगमंचीय पाठ में बदलता है। यह प्रक्रिया उन कृतियों के साथ अधिक प्रयुक्त होती है जो नाटक के रूप में रंग-संकेतों से या तो हीन हैं या आवश्यकतानुसार नहीं हैं। पूर्ण नाटक स्वतः ही रंगमंचीय पाठ होता है। उसमें मंच के सभी निर्देश व आवश्यकताएँ पहले से ही वर्णित होती हैं। यही कारण है कि “नाटक के लिखित शब्द और प्रस्तुति के विभिन्न उपांग जब एक सम्पूर्ण आकर ग्रहण करते हैं तब एक समग्र रंगभाषा बनती है”¹¹।

मूल रूप से “निर्देशकों के काम करने का अपना-अपना अंदाज़ है। कुछ लोग अपने जीवन में किए एक चर्चित नाटक की ता-उम्र फोटोकॉपी करते रहते हैं। कुछ नाटककार के लिए एक-एक कौमा और निर्देशों को हू-बा-हू मंच पर उतारते हैं, तो कुछ अभिनेता को घोड़ा और अपने को घुड़सवार मानते हैं, कुछ सारे का सारा काम अभिनेता के ऊपर थोप देते हैं और अंत में क्रेडिट खुद ले उड़ते हैं, कुछ इतने ज्यादा कंप्यूज होते हैं कि पूरी टीम को कंप्यूज कर देते हैं, कुछ इतने डर होते हैं कि पूरे पूर्वाभ्यास के दौरान एक प्रकार का पैनिक वातावरण बन जाता है, कुछ ने अपनी एक शैली उत्पन्न कर ली है और हर नाटक को उसमें टूंसकर पैक कर देते हैं तो कुछ हर नाटक को एक नवीन सृजन मानते हैं और अभिनेता को सृजन का साझेदार। ऐसे निर्देशक पूरी टीम के साथ मिलकर नाटक बनाते हैं। इसमें हर कोई बराबर है। ऐसे निर्देशकों के साथ काम करते हुए पूरी टीम अपने आपको काफी ऊर्जावान महसूस करती है और वो नाटक बहुत अपना-अपना सा लगता है”¹²। निर्देशक की विशेषताएँ उनके काम में झलकती हैं, जैसे- विशेष नाट्य-शैली, प्रयोगधर्मिता और सन्देश-सम्प्रेषण का चयन उन्हें एक-दूसरे से अलग करता है। “यह आश्चर्य की बात नहीं है कि एक ही नाटक को दो निर्देशक उसे अलग-अलग प्रस्तुत करेंगे और अपनी छाप छोड़ेंगे। आषाढ का एक दिन की प्रस्तुति से संबंधित फैसल अल्काजी और रामगोपाल बजाज के अलग-अलग वक्तव्य दो तरह की भावदशाओं को सूचित करते हैं। नाटक की मूल स्थापना से छेड़छाड़ किए बगैर निर्देशक उसे कई परिप्रेक्ष्यों में बांट सकता है जिससे प्रस्तुति के अनेक तत्त्व प्रभावित होते हैं। रंगभाषा की अधिरचना भले इससे न बदले उसके बर्ताव का मुहावरा बदल जाता है, तब जाहिर है; रंगभाषा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती”¹³।

निर्देशक वह सेतु है जो पाठ को मंच पर उपस्थित करने का प्रबंधन करता है। उसके बिना पाठ और मंच-भाषा में तारतम्यता को साधना बहुत कठिन कार्य होगा। निर्देशक नाट्य-शिल्प की संकल्पना में नाटक के मंचन की कल्पना कर अभिनेता और नेपथ्य के सभी पक्षों का संतुलन कायम करता है इससे निर्देशक की कल्पना कई बार लेखक की कल्पना से दूर जा पड़ती है। वही दूसरी ओर प्रदर्शन की तैयारी में निर्देशक का जितना अहम रोल होता है प्रस्तुति के दौरान उसकी कोई भूमिका नहीं होती। “बेशक प्रस्तुति के प्रत्येक अंग में और प्रत्येक अंश में वह अदृश्य रूप से विद्यमान है लेकिन जब नाटक मंच पर हो रहा होता है तो उसकी पूरी जिम्मेदारी अभिनेता मंडली और दूसरे पार्श्वकर्मियों पर टिकी रहती है। निर्देशक चाहे भी तो उस समय कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता”¹⁴। अतः मंचन के समय निर्देशक अपनी नियामक की भूमिका से दर्शक बन जाता है। मंचन अंतिम स्तर है जहाँ दर्शक और नाटक की प्रस्तुति एक दूसरे पर निर्भर हो जाती है।

दर्शक और मंच

प्रस्तुति का अंतिम पक्ष दर्शक होता है। उसके समक्ष ही नाटक प्रस्तुत होता है वह ही लक्ष्य है। उसके सामने पाठ अभिनेताओं और उनकी गतियों में, संवादों और नेपथ्य के अन्य पक्षों में बदल जाता है। संवाद अभिनेता से ही दर्शक तक पहुँचते हैं और इस माध्यम से नाटक का साक्षात्कार प्रस्तुति में हो रहा होता है और वह भी सबसे सफल संवादों में। इन्हीं में ही अभिनेताओं का व्यक्तित्व भी उभर रहा होता है जो नाटक के अनिवार्य कथ्य और संवेदनाओं को निर्मित करता है। अभिनेता मंच पर जीवित रूप में दर्शकों से साक्षात्कार ही नहीं करता, उन्हें मंच के प्रति आश्चस्त करता चलता है, इल्यूजन में वास्तविकता को निर्मित करता चलता है। यह लगभग मान्य हो गया है कि दर्शक अर्थ के सन्दर्भ अपने ही मूड में, अपने ही सन्दर्भों के तात्कालिक प्रभावों में ग्रहण करता है। इसलिए नाट्यभाषा का लक्ष्य सफल रंगमंच की भाषा को गढ़ना है जो उन गतियों को नए सन्दर्भ दे सके जिसे दर्शक अपना सकें।

नाट्य समीक्षक भी दर्शक-दृष्टि से ही मंचन का अवलोकन करते हैं। दर्शक एक समूह होता है भिन्नता में एकता का मूल यहाँ काम करता है। उम्र, लिंग, अर्थ, सामाजिक स्तर आदि कोई भी विभेदकता दर्शक की पूर्ण संकल्पना को प्रभावित कर सकती है। नाटक इन भिन्नता के मध्य सेतु पर प्रस्तुति करता है यही उसकी सच्ची प्रतिक्रिया होती है कि भिन्नता के बावजूद उसकी लोकप्रियता कितनी अधिक विकसित होती है।

“रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि रंगमंच के लिए नाटक लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है”¹⁵ -प्रसाद जी के इस मत से हिंदी नाटक जगत बहुत आगे आ चुका है। अब स्पष्ट रूप से स्थिति मंच के अनुकूल लेखन की है। “मंच के अनुकूल नाटकों के न होने के पीछे रंगभाषा मुख्य कारक रही है। अनेक नाटकों में भाषा का वह सूक्ष्म संयोजन ही दिखाई नहीं देता जो प्रस्तुति और पाठ दोनों स्तरों पर नाटकों को सफल बनाता है”¹⁶। जहाँ-जहाँ इस अनुकूलता पर ध्यान दिया गया है वहाँ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, धर्मवीर भारती, भीष्म साहनी, स्वदेश दीपक आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं जिन्होंने नाट्य सृजन और प्रस्तुति में मंचीय अनुकूलता को अपना लक्ष्य बनाया। वास्तव में पहले से ही सफल, प्रचलित या तत्कालीन समय के किसी रंगमंचीय शैली के साथ नए प्रयोगों का आग्रही होना ही किसी निर्मित हो रहे पाठ को एक रंगमंचीय अनुकूल सत्ता प्रदान करता है। यह मूल संकल्पनात्मक आदर्श ही नाटक और रंगमंच दोनों के ही विकास के लिए अनिवार्य है।

संदर्भ सूची

1. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला और अन्य निबंध (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद) पृष्ठ- 65
2. शम्भु मित्र, किसे कहते हैं नाट्यकला (साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली) पृष्ठ-10
3. नाट्यकृति के शाब्दिक रूप में निहित स्थितियों को मंचीय जीवन प्रदान करने की कला ही वस्तुतः नाट्यकला है - रमेश राजहंस, नाट्य प्रस्तुति: एक परिचय (राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली) पृष्ठ-15
4. शम्भु मित्र, किसे कहते हैं नाट्यकला (साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली) पृष्ठ-8
5. लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका (नेशनल पब्लिशिंग हाँउस, दिल्ली) पृष्ठ- 15
6. डॉ. हरिमोहन, साहित्यिक विद्याएँ: पुनर्विचार (वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली) पृष्ठ-39
7. डॉ. सीताराम झा, नाटक और रंगमंच (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना) पृष्ठ- 11
8. निर्मल वर्मा, तीन एकांत (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली) पृष्ठ-12

9. गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक (लोकभारतीय प्रकाशन, नयी दिल्ली) पृष्ठ-10
10. निर्मल वर्मा, तीन एकांत (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली) पृष्ठ-14
11. ज्योतिष जोशी, रंग विमर्श (नयी किताब, दिल्ली) पृष्ठ-53
12. आशा (संपा), रंग वैचारिकी: नये सन्दर्भों में (अनन्य प्रकाशन, दिल्ली) पृष्ठ-102
13. ज्योतिष जोशी, रंग विमर्श (नयी किताब, दिल्ली) पृष्ठ-54-55
14. सिद्धनाथ कुमार (संपा), अषाढ़ का एक दिन: विश्लेषण-विवेचन (अनुपम प्रकाशन, पटना) पृष्ठ-125
15. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध (लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद) पृष्ठ-69
16. ज्योतिष जोशी, रंग विमर्श (नयी किताब, दिल्ली) पृष्ठ-51